

अहिंसा का स्वरूप और महत्व

डा० चन्द्रनारायण मिश्र

अहिंसा का मनोवैज्ञानिक आधार—

अत्यन्त व्यावहारिक रूप में भी यह मानना ही पड़ेगा कि हम जो कुछ कार्य करते हैं उसके पीछे हमारी एकमात्र भावात्मक एषणा यही रहती है कि हमें सुख हो। उसी के गर्भ में यह निषेधात्मक एषणा भी रहती है कि हमें दुःख नहीं हो :

दुःखं न मे स्यात्, सुखमेव मे स्यात्,
इति प्रवृत्तः सततं हि लोकः। (बुद्धचरित)

इस सत्य को आधार बनाकर ही जैन मनीषियों ने अहिंसा के व्यवहार की उपादेयता बतलाई है। भगवान महावीर ने सुखेच्छा की मौलिक प्राणिप्रवृत्ति को ही पुरोभाग में रखते हुए कहा था :

सब्बे जीवा वि इच्छन्ति जीविउं न मरीजिउं।
तम्हा पाणिवहं घोरं निर्गन्था वच्चयत्तिणं ॥

सब जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता है। यह एक ऐसी नैसर्गिक और सहज प्रवृत्ति है जिसको इनकारा नहीं जा सकता है। यह एक ऐसे साधारण अनुभव की बात है जो व्यक्ति से लेकर समाज और राष्ट्र तक पर लागू है। वस्तुतः यह सृष्टि के विधान का ही एक आवश्यक प्रेरक तत्त्व है कि हम जीना चाहते हैं। दूसरे रूप में इसे यों भी कहा जा सकता है कि प्रकृति ने हमें जीने का मौलिक अधिकार दिया है। इस अधिकार को यदि कोई जबरन छीनने का प्रयास करता है तो वह घोर अन्याय करता है, पाप करता है। शाश्वत प्रकृति-धर्म के विरुद्ध का आचरण अन्याय और पाप नहीं तो और क्या ? इतना ही नहीं, प्रकृति जिन नियमों में आबद्ध होकर परिचालित होती है उसका यदि कोई उल्लंघन करता है तो उसे प्रकृति के आक्रोश का भागी बनना ही पड़ता है। यह आक्रोश किसी को क्षमा नहीं करता। आक्रोश कार्यशील होकर असन्तुलन की स्थिति उत्पन्न करता है। साथ ही, एक बिन्दु पर का असन्तुलन सर्वत्र व्याप्त हो जाता है, अर्थात् उसके सम्पर्क में आए अन्य बिन्दुओं को भी प्रभावित कर देता है। असन्तुलन की क्रिया-प्रतिक्रिया ऐसी होती है कि क्षोभों का ताँता लग जाता है। इसी को व्यक्तिगत अथवा सामाजिक जीवन में अशान्ति की स्थिति कहते हैं।

इसके विरोध में यह कहा जा सकता है कि जिस जीने की मूल प्रवृत्ति की चर्चा की गयी है उसी का यह भी तो एक उपनियम है कि 'जीवो जीवस्य घातकः'। विकासवाद के नवोन पक्षपाती इसी को survival of the fittest की संज्ञा देते हैं। योग भाष्यकार ने इसी प्रकार के एक प्राचीन मत को उद्धृत किया है जिसका कहना है कि जब तक अन्य प्राणियों की हत्या न की जाय तब तक सांसारिक उपभोग सम्भव नहीं हो सकता है—

नाऽनुपहत्य भूतान्युपभोगः संभवतीति हिंसाकृतोऽप्यस्ति शरीरः कर्माशय इति। (योगभाष्य, २/१५)

यह तो अनुभव-सिद्ध ही है कि बड़े-बड़े विजेताओं के विजय-स्तम्भ की नींव अनगिनत नरमुण्डों पर खड़ी की गयी और धनियों की गगनचुम्बी अट्टालिकाएँ दरिद्रों की झोपड़ियों को धराशायी कर बनाई गईं। किसी भी महत्वाकांक्षा की पूर्ति परपीड़न के बिना सम्भव ही नहीं है। सांसारिक जीवन को दौड़ में वही आगे निकल सकता है जो साथ दौड़ने वालों को धक्का देकर गिरा सकता

हैं। ऐसा भी विश्वास किया जाता है कि महत्वाकांक्षा के बिना सभ्यता आगे बढ़ ही नहीं सकती है और उसकी संतुष्टि के लिए प्रतिस्पर्धा की सक्रियता आवश्यक है। प्रतिस्पर्धा में सफलता के लिए अपने प्रतिस्पर्धियों का किसी न किसी प्रकार से दमन करना अनिवार्य है। दमन में परपीड़न होगा ही। इस प्रकार मनुष्य के जीवन से हिंसा के भाव को हटाना एक मधुर कल्पनामात्र है।

मानव धर्म के रूप में अहिंसा—

पाश्चात्य विकासवादियों का यह तर्क आपाततः प्रभावोत्पादक लगता है किन्तु इसका खोखलापन स्वयं इसका ही विपर्यस्त आधार-वाक्य प्रकट कर देता है। यदि वन्य नियम (Rule of jungle) को सभ्य जीवन का भी मानक माना जाय तो सभ्यता का रूप ही विकृत हो जाएगा। 'मात्स्यन्याय' के द्वारा मानव जीवन की नीति को निर्धारित करने पर सभ्यता और संस्कृति की गति ऊर्ध्वमुख न होकर अधोमुख हो जाएगी। डार्विन के पक्षपाती पशु एवं मनुष्य में केवल परिमाणात्मक भेद मानने हैं किन्तु भारतीय विचार उनमें गुणात्मक भिन्नता देखता है। अरस्तू के अनुसार पशु के साथ मनुष्य की भिन्नता इसलिए है कि मनुष्य में बुद्धि है अर्थात् उसमें युक्तिशीलता का गुण है—Man is a rational animal यह गुण पशु में नहीं माना गया है। दकार्तो तो पशु को मात्र सजीव मशीन मानते हैं। किन्तु भारतीय विचार के अनुसार तारतम्यजन्य भिन्नता भले ही हों किन्तु पशुओं में भी बुद्धि है अवश्य—बुद्धिरस्ति समस्तस्य जन्तोविषयगोचरे (मार्कण्डेय पुराण)। वास्तविक भेद तो इस विषय को लेकर है कि पशुओं में विवेकजन्य कर्तव्य की भावना नहीं रहती जो मनुष्यों में होती है :

आहारनिदाभयमंथुनञ्च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम् ।

धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः । (हितोपदेश)

इस प्रसंग में कर्तव्य शब्द का अर्थ 'मानवीय कर्तव्य' समझना चाहिए। जो मानवीय कर्तव्य है वही धर्म है। चूँकि कुछ ऐसे कर्तव्य होते हैं जिनके द्वारा समग्र जीवन का लक्ष्य सिद्ध होता है इसलिए उनका एक नाम 'धर्म' है (यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः)। ये कर्तव्य ऐसे हैं जिनका धारण अत्यावश्यक है (धारणाद्धर्ममित्याहुः)। यदि उनका धारण न हो तो समाज में अव्यवस्था छा जाएगी धर्मो धारयति प्रजाः), और सभ्यता विष्टुं खलित हो जाएगी। जिसे हम संस्कृति कहते हैं, उसकी प्राप्ति असंभव हो जाएगी। संस्कृति किसी मनुष्य-समाज का होती है, पशु-समुदाय की नहीं। सभ्यता के पथ पर बढ़ते हुए मानव समाज ने अब तक जिन मूल्यों का स्थापन किया है वे ही उसकी संस्कृति की उपलब्धियाँ हैं। पशु की ऐसी कोई उपलब्धि नहीं होती है। पशु साधारणतया दैहिक आवश्यकताओं से प्रेरित होकर क्रियाशील होना है किन्तु मनुष्य की क्रियाशीलता का प्रेरक घटक बौद्धिक एवं आध्यात्मिक तत्त्वों के प्रति उसकी उन्मुखता है। बाइबिल का निम्नलिखित कथन इसी आशय को व्यक्त करता है :

Blessed are those who feel their spiritual need,
for the kingdom of Heaven belongs to them.

साधारण प्राणी की भूख-प्यास अन्न-जल से शान्त हो जाती है किन्तु इन दैहिक आवश्यकताओं के अतिरिक्त मनुष्य की एक पृथक् बुभुक्षा और कृपा होती है जो सुभद्र तत्त्वों की उपलब्धि से ही शमित हो सकती है—

Blessed are those who are hungry and thirsty for uprightness,
for they will be satisfied ! (Bible, The New Testament.)

इतनी बड़ी भिन्नता की खाई को देखते हुए भी यदि हम मनुष्य को एक साधारण निम्नवर्गीय प्राणी के समकक्ष रख कर प्राणी-मात्र को एक ही नियम में आबद्ध करने का प्रयास करें तो हमारा निष्कर्ष अवश्य ही भ्रान्तिग्रस्त होगा। इसी प्रकार की भ्रान्तिग्रस्तता का एक नमूना उपर्युक्त विचार है जिसमें हिंसावृत्ति को साधारण जीवन निर्वाह के लिए भी अनिवार्य माना गया है।

इसमें कोई मतान्तर नहीं है कि मनुष्य एक प्राणी है। परन्तु वह ऐसा निम्नस्तर का प्राणी नहीं है जिसमें उचित-अनुचित के ज्ञान की सम्भावना नहीं है। जिस प्राणी में ऐसा ज्ञान नहीं रहता है उसके किसी कर्म पर उचित-अनुचित का निर्णय भी नहीं दिया जा सकता है। बच्चे में उक्त प्रकार के ज्ञान के अभाव के कारण यदि प्रचलित अर्थ में उससे कोई अपकर्म भी किया जाता तो उस पर न तो पुण्यपाप का निर्णय लिया जाता है और न वह किसी शास्त्रदण्ड अथवा राजदण्ड का ही भागी समझा जाता है। उसी प्रकार बिच्छू यदि किसी को डंक मार देता तो उसका भी कर्म अच्छे बुरे की परिधि से बाहर ही गिना जाता है क्योंकि वैसा तो उसका स्वभाव ही है।

उसे यह समझने की क्षमता नहीं होती कि कितने प्रतिबद्ध कर्म के लिए उसे क्या करना चाहिए अथवा उसके डंक मारने का दूसरे पर क्या परिणाम होता है। परन्तु उसी प्रकार स्वाभाविक कर्म होने के बहाने किसी हत्यारे मनुष्य को हत्या के दंड से मुक्ति नहीं मिल सकती है। परिणाम के पूर्व ज्ञान के उपरान्त ही ज्ञानसंयुक्त व्यक्ति का कोई ऐच्छिक कर्म होता है। दारुण कष्ट देने अथवा जान लेने के लिए ही कोई हिंसक मनुष्य प्रहार करता है। वह अपने व्यापार के पूर्वगामी और पश्चाद्भावी परिणामों की पूरी जानकारी रखता है। स्वभावतः ऐसे ज्ञान का नहीं रहना कोई दोष नहीं है, किन्तु ज्ञानभागी होकर भी औचित्य का उल्लंघन करना अपराध और पाप है। इसी भेद के कारण पशु-व्यवहार और मानव-व्यवहार में भी भिन्नता है। 'अदले का बदला' पशु-धर्म है किन्तु 'अपराध के बदले क्षमा' यह मानव धर्म है। क्षमा का उद्भव अहिंसा से ही है। इसी तथ्य पर बल देते हुए करुणावतार ईशमसीह ने शिक्षा दी थीं :—

You have heard that they were told 'An eye for an eye and a tooth for a tooth' But I shall tell you not to resist injury, but if any one strikes you on your right cheek, turn the other to him too; and if any one wants to sue you for your shirt, let him have your coat too. And if any one forces you to go one mile, go two miles with him. If any one begs from you, give to him, and when any one wants to borrow from you, do not turn away (Bible).

वास्तविक मनुष्य वही है जो मानव धर्म का पालन करता है। और, मानवधर्म के पालन का अर्थ होता है अहिंसाव्रत का पालन। इसलिए कोई भी मनुष्य किसी प्रकार की हिंसा के कर्म से सम्बद्ध हो और अधर्म अथवा अनौचित्य के दोष से बरी हो, ऐसा नहीं हो सकता।

मनुष्य को अन्य प्राणियों का सिरमौर इसलिए कहा गया है कि वह ज्ञान के विकास की दिशा में सबसे आगे है। परन्तु ज्ञान स्वयं अपने में लक्ष्य नहीं है; वह तो साधनमात्र है। यहाँ ज्ञान शब्द से हमारा तात्पर्य वास्तविक ज्ञान से है। वास्तविक ज्ञान वह है जो सम्यक् आस्था और निष्ठा पर आधारित हो एवं जो विशुद्ध मानवोचित चरित्रनिर्माण की ओर उन्मुख करता हो। अन्तिम लक्ष्य है चरित्र निर्माण, शुष्क ज्ञान नहीं। इसलिए कहा भी गया है कि :

शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खाः
यस्तु क्रियावान् पुरुषः स विद्वान् ।
अन्धस्य किं हस्ततलस्थितोऽपि
प्रकाशयत्यर्थमिह प्रदीपः ॥ (हितोपदेश)

उक्त प्रकार की निष्ठा और ज्ञान के द्वारा जिस चरित्र का निर्माण होता है वही निःश्रेयस का भी अधिकारी होता है : सम्यक्ज्ञान-दर्शन-चारित्र्याणि मोक्षमार्गः (उभास्वामी कृत तत्त्वार्थ सूत्र)। परन्तु इन सबों की जड़ में है मन, वचन और कर्म की एकात्मकता। यदि हम स्वीकारते हैं और समझते भी हैं कि अहिंसा का पालन मानवधर्म है तो इसको हमें अपने दैनन्दिन व्यवहार में उतारना चाहिए। केवल मुख से ऐसा कहना कि 'अहिंसा परमो धर्मः' अथवा मात्र इसके महत्त्व को विचार के ही स्तर तक रखना पाखण्ड है—ज्ञानं भारः क्रियां बिना। यह भी एक सम्भावना है कि बहुतेरे लोग परम्परागत रूप में ही 'अहिंसा परम धर्म है' इस वाक्य को दोते आ रहे हैं। अहिंसा के वास्तविक रूप से वे वस्तुतः अपरिचित रहते हैं। इसलिए इस बात की आवश्यकता प्रतीत होती है कि ऐसे लोगों के लिए अहिंसा की एक संक्षिप्त परिचयात्मक रूपरेखा प्रस्तुत की जाय।

अहिंसा का निषेधात्मक और भावात्मक पक्ष :

महावीर स्वामी ने सभी प्राणियों के प्रति संयम रखने को अहिंसा कहा है—अहिंसा निउणा दिट्ठा, सव्वभूएसु संजमो (दशवै-कालिक, ६-८)। यहाँ प्राणियों के प्रति संयम का अर्थ है उनके प्रति अकुशलमूलक कार्यों से वचना। इस विचार की व्याख्या व्यासभाष्य में अधिक परिच्छिन्नता से की गयी है। इसमें सभी प्रकार से सब समय प्राणिमात्र के प्रति अनिष्ट चिन्तन के अभाव को अहिंसा कहा गया है :

तत्राहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः (व्यासभाष्य २/३०)

अहिंसा हिंसा का विरोधी भाव है, अतः स्वयं हिंसा के स्वरूप पर एक विहंगम दृष्टि डालना आवश्यक जान पड़ता है। किसी प्रकार का प्राणिपीडन हिंसा कहलाता है। साधारण व्यवहार में प्राणिवध को हिंसा कहते हैं। यह हिंसा है अवश्य, किन्तु इतना ही भर

हिंसा नहीं है। साथ ही, केवल वही हिंसा का दोषी नहीं है जो साक्षात् रूप से प्राणी की हिंसा करता है। साक्षात् अथवा परम्परया किसी भी रूप में यदि किसी जीवधारी को कष्ट पहुंचाया जाता है तो वह हिंसा का उदाहरण होता है। कृत, कारित और अनुमोदित—ये तीन हिंसा के प्रारम्भिक भेद हैं। कोई हिंसा ऐसी होती है जो कर्त्ता के द्वारा साक्षात् रूप से की जाती है, जैसे किसी व्याधा के द्वारा किसी पशु अथवा पक्षी की हत्या। परन्तु यदि कोई व्यवित स्वयं हिंसा नहीं करता बल्कि दूसरे के द्वारा करवाता है तो उसमें भी उसका प्रेरक कर्म हिंसा की ही कोटि में आता है। फलतः किसी की आज्ञा के द्वारा यदि हत्या की जाती है तो आज्ञा देने वाला भी हिंसक ही कहा जाएगा। तीसरा भेद वह है जो न कृत है और न कारित ही, किन्तु जिसकी स्वीकृति भर दी गयी हो। किसी प्राणी के वध का विरोध करने के बजाय यदि यह कहा जाय कि 'ठीक है' तो इस प्रकार की स्वीकृति को अनुमोदित हत्या कहेंगे। इनमें से प्रत्येक को लोभ, क्रोध और मोह के भेद से पुनः तीन भागों में विभाजित किया गया है। लोभ-जन्म हत्या या हिंसा का उदाहरण मांस और चमड़े के लिए बकरे आदि का वध है। किसी अपकार का बदला लेने के लिए जो वध किया जाता है वह क्रोधजन्य हिंसा का उदाहरण होता है। काफिर होने के कारण मुसलमानों ने भारतवर्ष में आकर हिन्दुओं का जो कत्लेआम किया वह मोहजन्य हिंसा का उदाहरण है क्योंकि इस प्रकार की हत्या का कारण भ्रमात्मक बुद्धि ही है। फिर मृदुता, मध्यता और तीव्रता के आपेक्षिक भेद के कारण प्रत्येक का मृदु-मृदु, मध्यमृदु, तीव्रमृदु; मृदुमध्य, मध्यमध्य, तीव्रमध्य; मृदुतीव्र, मध्यतीव्र एवं अधिमात्रतीव्र आदि के भेद से इक्यासी प्रकार की हिंसा कही गयी है। यह भी दिग्दर्शनमात्र है। प्राणियों की संख्या अनन्त है; अतः हिंसा का प्रकार भी असंख्य हो सकता है :

वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभ-क्रोध-मोहपूर्वका मदुमध्याधिमत्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम्
—योगसूत्र ३/३४

इन सभी हिंसाओं से बचना ही अहिंसा है।

यों तो अहिंसा शब्द साधारणतया और स्वरूपतः भी निषेधात्मक प्रवृत्ति के अर्थ में व्यवहृत होता आया है। परन्तु अर्थतः यह अभावरूप नहीं है। वस्तुतः इसके अर्थ का बाह्यरूप आभावात्मक और आभ्यन्तर रूप भावात्मक एवं विधिपरक है। इसलिए यह कहना उपयुक्त होगा कि एक ही अहिंसाविचार के दो पक्ष हैं। प्रथम में प्राणियों के प्रति प्रतिकूल या अकुशलमूलात्मक प्रवृत्तियों का निषेध है तो द्वितीय में कुशलमूलात्मक प्रवृत्तियों का स्वतः विधान है। अहिंसा के इस प्रकार महत्वगर्भित होने के कारण ही सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह के यमनियमों के मूल में इसके अस्तित्व को माना गया है—उत्तरे च यमनियमास्तन्मूला : —(व्यासभाष्य २/३०)

यह एक ऐसा महाव्रत है जो देशकाल की भिन्नताओं द्वारा अवच्छिन्न होकर सर्वत्र एक रूप से लागू है।

जाति-देश-कालसमयाऽनवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् । —योगसूत्र २/३१

यों तो वेदों में भी 'मा हिंस्यात् सर्वभूतानि' जैसे अहिंसा-प्रतिपादक वाक्य मिलते ही हैं, किन्तु मीमांसक इस सामान्य-शास्त्र का विरोध 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' जैसे विशेष शास्त्र के द्वारा मानकर कादाचित्क हिंसा का भी समर्थन करते हैं। परन्तु पीछे चलकर प्रायः जैन एवं बौद्ध विचारों से प्रभावित होकर सांख्य एवं योग जैसे वैदिक दर्शनों ने भी अहिंसा में अपवाद का विरोध किया (सांख्यतत्त्व कौमुदी, २) एक व्यावहारिक विचार यह भी प्रस्तुत किया गया है कि किसी जातिविशेष के व्यवसाय में हुई हिंसा को हिंसा नहीं समझा जाय जैसे मछुए के लिए मछली मारने में हिंसा को। उसी प्रकार पुण्यतीर्थ (काशी, प्रयाग आदि) और पुण्यदिन (चतुर्दशी आदि) में हिंसा का वर्जन किया गया एवं किसी पुण्यकार्य के लिए की गयी हिंसा को हिंसा नहीं समझा गया। परन्तु व्यासभाष्य ने इस विचार का खण्डन कर यह निश्चित किया है कि अहिंसा में किसी भी प्रकार का व्यभिचार सम्भव नहीं है क्योंकि यह तो एक सार्वभौम व्रत है (व्यासभाष्य, २/३१)।

अहिंसा के जिस भावात्मक पहलू की चर्चा की गयी है उसमें प्रायः सभी सत्त्वात्मक गुणों का समावेश हो जाता है, फिर भी उन सबों में प्रमुख स्थान कृपाभाव का है। यही कारण है कि जैनों के प्रश्नव्याकरण सूत्र में अहिंसा को दया भी कहा गया है। इसी को अनुकम्पा या कृपा भी कहते हैं। किसी प्राणी को प्रतिकूल सम्बेदन से अनुकूल सम्बेदन की स्थिति में देखने के लिए सहानुभूतिपूर्ण अन्तःप्रेरणा को दया की संज्ञा दी गयी है :—

अनुकम्पा कृपा । यथा सर्वे एव सत्त्वाः सुखाथिनो दुःखप्रहाणाथिनश्च ततो नैषामल्पापि पीडा मया कार्येति ।

(धर्मसंग्रह, अधि० २)

अहिंसा के गर्भ में भी यही भावना होती है—

अहिंसा सानुकम्पा च । (प्रश्नव्याकरण टीका, १ सं०) ।

अतः दया अहिंसा का ही भावात्मक पहलू है। योगभाष्य में अहिंसा को सभी महाव्रतों का आधार कहा गया है। उत्तराध्ययन वृत्ति (१-११) ने भी अहिंसा को धर्म का मूल कहा है क्योंकि उसी का भावात्मक पक्ष दया का रूप है (धर्मः.....पूर्णदयामयप्रवृत्ति-रूपत्वादहिंसामूलः)। उसी अर्थ में 'धर्मरत्न प्रकरण' ने भी दया को धर्म का मूल कहा है क्योंकि अन्य सभी अनुष्ठान उसी के अनुगामी हैं—

मूलं धम्मस्स दया, तयणुगयं सव्वमेवाऽनुट्ठाणं ।

टी०—मूलमाद्यकारणं धर्मस्य उक्तनिरुक्तस्य दया प्राणिरक्षा ।

प्रसिद्ध जैनागम भगवतीसूत्र ने दया का जो वर्णन किया है उससे भी यह स्पष्ट होता है कि अहिंसा को दया का समानार्थक माना गया है। इसमें कहा गया है कि 'जीवमात्र को कष्ट नहीं देना, शोक में नहीं डालना, रोदन एवं अश्रुपात करने का हेतु नहीं होना, ताड़न नहीं करना, भय नहीं दिखाना, अनुकम्पा के रूप हैं (भगवती सूत्र, ६-७)। पारिभाषिक रूप में अहिंसा का भी स्वरूप तो यही है। पुनः 'दया, संयम, लज्जा, जुगुप्सा, कपटहीनता, तितिक्षा, अहिंसा और ह्री'—इन सबों को समानार्थक कहा गया है—

दया य संजमे लज्जा, दुगुंछा अच्छलणादि य ।

तितिक्षा य अहिंसा य, ह्रीति एगद्विया पदा ।

(उत्तराध्ययन निर्युक्ति, अ० ३)

इससे यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि जैन विचार में अहिंसा का क्षेत्र कितना व्यापक है। इसकी इसी व्यापकता और धर्म के मूल में होने के कारण जहाँ कहीं धर्म के तत्त्वों को गिनाया गया वहाँ अहिंसा की चर्चा प्रारम्भ में ही की गयी। यह विषय वैदिक और अवैदिक दोनों दर्शनों के प्रसंग में समान रूप से सत्य है। उदाहरण के लिए मनु की निम्नलिखित उक्ति को लें :—

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।

एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः ॥ (मनुस्मृति-१०/६३)

अहिंसा सत्यमस्तेयं त्यागो मिथुनवर्जनम् ।

पंचस्वेतेषु धर्मेषु सर्वे धर्माः प्रतिष्ठिताः ॥

भारतीय वाङ्मय में इस प्रचलित कथन से सभी सुपरिचित हैं कि वेदव्यास के अठारहों पुराणों का आशय अहिंसा का ही उपदेश है—

अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम् ।

परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम् ॥

जैन आचार-विचार का तो अहिंसा मूलमन्त्र ही है। इसलिए स्वर्ग, मोक्ष आदि की उपलब्धि के जितने साधन हैं उनमें इसे सर्वप्रधान कहा गया है। वस्तुतः अन्य व्रतों का उपदेश भी इसी के संरक्षण के लिए किया गया है :—

अहिंसैषा मता मुख्या स्वर्गमोक्षप्रसाधनी ।

एतत्-संरक्षणार्थं च न्याय्यं सत्यादिपालनम् ॥ (हारिभद्रिय अष्टक)

जैन विचार की असल फसल अहिंसा ही है। सत्यादि पालन के नियम तो उसकी रक्षा के लिए केवल बेड़े का काम करते हैं :

अहिंसाशस्यसंरक्षणे वृत्तिकल्पत्वात् सत्यादिव्रतानाम् (वहीं) ।

कहने का आशय यह है कि धर्म के और जितने व्रत, नियम आदि हैं वे सभी किसी न किसी रूप में अहिंसा-रूपी अंगी के ही अंग हैं।

सुखोपबिध का बीज अहिंसा है—

मनुष्य का जीवन सुख और दुःख दोनों का सम्मिलित अनुभव है। जब तक कोई साधारण जीवन के अनुभव के क्षेत्र में रहता है तब तक ये दोनों अनुभव अवश्यम्भावी हैं। परन्तु ऐहिक जीवन में कोई साधारण व्यक्ति 'केवली' नहीं हो सकता अर्थात् उसे अन्य व्यक्तियों की भी अपेक्षा रहती है। अरस्तू ने ठीक ही कहा था कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज में रहने का अर्थ यह है कि उसे अपने समकक्ष अन्य व्यक्तियों के साथ रहना पड़ता है। समाज की कल्पना हम प्राणिसमाज के रूप में करें तो समाज का क्षेत्र और भी व्यापक हो जाता है। इस क्षेत्र में स्थित प्रत्येक व्यक्ति को अन्य के साथ किसी न किसी सम्बन्ध की स्थापना करके ही रहना पड़ता

जैन धर्म एवं आचार

है। हमारे सुख-दुःख के कारण सामान्यतया इन्हीं सम्बन्धों के रूप पर निर्भर करते हैं। इसी प्रसंग में यह भी ध्यान में रखना है कि जैन और बौद्ध दर्शन इस तथ्य में विश्वास करते हैं कि अपने सुख-दुःख के निर्माणकर्ता हम स्वयं हैं। कर्मवाद पर अटूट विश्वास एवं आस्था रखते हुए जैन दार्शनिकों का यह मन्तव्य है कि जो भी हमारे सुख-दुःख के अनुभव हैं वे सभी अपने ही कर्म के फल हैं। जैसी करनी वैसी भरनी। जो आम का पौधा लगाएगा उसे अमृतफल रसाल मिलेगा, किन्तु जो बबूल का पौधा लगाएगा उसे तो निश्चितरूपेण काँटे ही मिलेंगे, यह अनुभव-सिद्ध है। विज्ञान एवं दर्शन भी इस कार्यकारणवाद की अनिवार्यता पर विश्वास करते हैं कि कार्य एवं कारण में सजातीयता होती है और क्रिया के अनुरूप प्रतिक्रिया भी होती है। कहने का तात्पर्य यह कि कोई भी ऐसा कर्म नहीं होता जो किसी अन्य कर्म के रूप में प्रतिफलित नहीं होता हो।

इस सामान्य नियम की पृष्ठभूमि में अब हम अपनी मूलप्रकृति पर पुनः दृष्टिपात करें। इसका निर्देश प्रसंगवश प्रारम्भ में ही कर दिया गया है कि हम स्वभावतः सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति की कामना करते हैं। मरणवास सबसे बड़ा भय है और जीवन सबसे प्रिय वस्तु होती है। भगवान महावीर ने इसी जीवन के प्रेरक मूलतत्त्व को अपनी देशना का आधार बनाकर कहा है—

सर्वे पाणा पियाउया सुहसाया दुक्खपडिक्कूला अप्पियवहा ।

पियजीविणो जीविउकामा सर्वेसि जीवियं पियं ॥ (आचारांग सूत्र १/२/३/६३-६४)

उपर्युक्त सत्य को अनिवार्य रूप से मानना ही पड़ेगा। तब फिर कर्म की बात आती है कि कौन से ऐसे कर्म हैं जिनके द्वारा उपर्युक्त इच्छा की यथावत् पूर्ति हो सकती है। इष्ट कर्म की प्राप्ति अनिष्ट कर्म के माध्यम से नहीं हो सकती है। अतः किसी अन्य को सुख देकर ही कोई स्वयं भी सुखी हो सकता है, अन्यथा नहीं :

सर्वाणि सत्त्वानि सुखे रतानि,
दुःखाच्च सर्वाणि समुद्विजन्ति ।
तस्मात् सुखार्थी सुखमेव दद्यात्,
सुखप्रदाता लभते सुखानि ॥ (सूत्रकृतांगवृत्ति)

इसको समझने के लिए कि हमारा कौनसा कर्म औरों के लिए प्रिय अथवा अप्रिय होगा हमें कहीं अन्यत्र जाने की आवश्यकता नहीं है। यह स्वसंवेद्य है—हम अपने आप से पूछकर यह समझ सकते हैं कि क्या प्रिय (अहिंसात्मक) और क्या अप्रिय (हिंसात्मक) है। हमें जो व्यवहार स्वयं नहीं रुचता उसे दूसरों के प्रति नहीं करना है :

आत्मनः प्रतिकूलानि न परेषां समाचरेत् । (उपासकाध्ययन, भा. I, श्लो. २६७)

यही अहिंसा-संहिता का प्रथम मूलमन्त्र है। अहिंसा के व्यवहार को अन्य प्राणियों के प्रति भी प्रसारित करने के लिए हमारी सत्त्वात्मक वृत्ति स्वयं हमें उत्प्रेरित करती है। इसी को कितने सहजभाव से एक साधु-हृदय के स्वानुभूतिपूर्ण उद्गार ने यों प्रकट किया है :

प्राणा यथात्मनोऽभीष्टाः भूतानामपि ते तथा ।
आत्मौपम्येन भूतेषु दयां कुर्वन्ति साधवः ॥ (हितोपदेश)

अहिंसा का एक पक्ष यह भी है कि इसके परिणामस्वरूप भय का निवारण अपने आप हो जाता है। जैनागम में इसे एक मार्मिक कथानक के द्वारा समझाया गया है।

महाराज संयति मृगया के लिए एक बार जंगल में गये। वहाँ एक मृग पर उन्होंने तीर छोड़ा। तीर ठिकाने लगा, परन्तु वह मृग बिधे हुए तीर के साथ एक समाधिस्थ मुनि के आगे जा गिरा। संयति उसका पीछा करते हुए जब वहाँ आए तो ऋषि के शाप के भय के कारण काँपने लगे। ऋषि का ध्यान टूटा तो अपने अपराध के लिए संयति उनसे बारम्बार क्षमायाचना करने लगे। भयभीत महाराज की यह स्थिति देखकर ऋषि ने शान्तभाव से उन्हें सम्बोधित करते हुए कहा, 'राजन् मैं तो तुम्हें अभयदान देता ही हूँ, साथ ही यह भी तुझसे कहता हूँ कि तू भी अभयदाता बन। इस छोटे से जीवन में प्राणियों का पीड़न कर तू स्वयं कैसे सुखी रह पाएगा ?':

अभयो पत्थिवा तुब्भं अभयंदाया भवाहि य ।
अणिच्चे जीवलोगम्मि किं हिंसाये पसज्जसि ॥

इस वाक्य का असर महाराज संयति पर जादू के समान हुआ और उन्होंने उसी दिन से मृगया पर जाना छोड़ दिया। भय सुख का चोर है क्योंकि भय का वातावरण अशान्ति की स्थिति का उत्पन्न करता है जिसमें सुख की कोई आशा ही नहीं की जा सकती है। इसलिए सुख के लिए अभय की जननी अहिंसा का स्थापन नितान्त आवश्यक है।

क्रिया-प्रतिक्रिया का नियम ऐसा है कि बिना अहिंसा का भाव रखे हम स्वयं भी वस्तुतः सुखी रहने की कल्पना नहीं कर सकते हैं। कोई बलशाली निर्बल को सताता है। परन्तु बलशाली और निर्बलता निरपेक्ष भाव नहीं हैं। किसी बलशाली को अपने से अधिक बलवान के फेर में पड़ने पर निर्बल की तरह दुर्गति का भागी बनना पड़ता है। दूसरी बात यह भी है कि निर्बल सदा निर्बल ही नहीं रहता—‘मरे बैल के चाम से लोह भस्म हूँ जाय’। एक समय ऐसा भी आता है जब निर्बल की ‘आह’ संघटित होकर प्रचण्ड आघात करती है। संसार की विभिन्न हिंसक क्रान्तियाँ इसका साकार उदाहरण हैं। परन्तु यह भी ध्यान में रखना है कि इस प्रकार की क्रान्तियाँ समस्याओं का अन्तिम समाधान नहीं कर पाई हैं। वैमनस्य, द्वेष, क्रोध, अपमान, लोभ आदि की जड़ उन्मूलित न तो हो पाई और न उक्त मार्ग से हो ही सकती हैं। वे कन्द रूप में अन्तर्हित रहती हैं और उपयुक्त अवसर पाकर प्रारम्भिक रूप को ग्रहण कर लेती हैं। यहीं पर प्राचीन भारतीय विचार की नवीन साम्यवादी विचार से भिन्नता है। नवीन साम्यवादी विचार मुख्यतः आर्थिक समता के सिद्धान्त पर आधारित है, और वहाँ आर्थिक समता की स्थिति को लाने के लिए हिंसा की नीति का अवलम्बन त्याज्य नहीं समझा जाता है। भारतीय विचार के अनुसार अत्यन्त मौलिक एवं व्यापक अर्थ में सभी प्राणियों में साम्य है। अज्ञान अथवा मोह में पड़कर लोग इस सत्य को भूले रहते हैं। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि पवित्र साधनों के द्वारा अपवित्र मोह के अन्धकार को हटाया जाय और इस सत्य का साक्षात्कार किया जाय कि सभी प्राणी समान हैं। गीता कहती है :

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।

शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥ (गीता-५/१८)

इस सत्य के अनुभव के लिए जिन पवित्र साधनों की चर्चा हमने की है उनका उत्स अहिंसा की भूमि में ही है।

अहिंसा मानव-संस्कृति की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि है—

हजारों वर्षों की सभ्यता के अनुभवों के बाद मानव ने जीवन के जिन सौम्य तत्त्वों का अन्वेषण किया, वे उसके धार्मिक विश्वासों में संरक्षित रखे गये हैं। भारतीय धार्मिक विश्वास का अर्थ अन्धविश्वास कभी नहीं समझना चाहिए क्योंकि जिन आदर्शों पर यहाँ धार्मिक आस्था की मुहर लगी है वे वस्तुतः शताब्दियों के मनन-चिन्तन के परिणाम हैं। सभ्यता के रूप में उतार-चढ़ाव आते रहे हैं क्योंकि ऐतिहासिक घटनाओं की गति उन्नति एवं अवनति, दोनों ही दिशाओं में रही हैं। विश्वइतिहास के अध्ययन से पता चलता है कि किसी काल-विशेष में घटनाओं का क्रम सम्पूर्ण विश्व में एक ही प्रकार का रहा है। इसी क्रम के मूल्यांकन से उस काल में सभ्यता की स्थिति का पता चलता है। टायनबी आदि इतिहास-दर्शन के प्रसिद्ध विद्वान मानते हैं कि मानवसभ्यता के प्रारम्भ से लेकर आज तक के समय के बीच केवल एक परमोत्कर्ष का बिन्दु आया है जिसका काल भारत में उपनिषत्काल से लेकर महात्मा महावीर एवं बुद्ध के धर्म प्रचार की अवधि तक का है। इसके केन्द्र-बिन्दु को ई० पू० छठी शताब्दी में माना गया है जो मोटामोटी स्वामी महावीर का आविर्भावकाल है। इतिहासदर्शन के साहित्य में इस काल को धुरीणकाल (Axial Period) की संज्ञा दी गयी है। उस काल में मानवता ने जिन तत्त्वों की खोज की, उसी के चतुर्दिक् आज भी उसके आदर्श के चक्र घूम रहे हैं। उसके आगे किसी अन्य नवीन तत्त्व की उपलब्धि नहीं हो सकी है। यही कारण है कि उक्त समय को ‘धुरीण’ काल कहा गया है। ये तत्त्व मूलतः उपनिषदों में मुखरित हुए थे किन्तु कर्मकाण्ड ने परवर्तीलोक में उन्हें आवृत कर दिया था। उन्हें फिर आगे लाकर पुनः सबल करने का श्रेय भगवान महावीर एवं महात्मा बुद्ध को है। हम पूर्वपृष्ठों में यह प्रदर्शित कर ही चुके हैं कि उन्होंने जीवन के जिन सौम्य तत्त्वों पर बल दिया उनमें अहिंसा सर्वप्रमुख है क्योंकि अन्य सभी आदर्शों की जननी यही है। मानवसभ्यता के भविष्य का प्रकाश यही है। अनेक ठोकरें खाने के बाद अन्त में मानव-समाज को समग्ररूप से उस भगवती अहिंसा के शरण में आना ही पड़ेगा जो प्राणिमात्र के लिए कल्याण की प्रसविनी है :

एसा भगवती अहिंसा तसथावरसव्वभूयखेमंकरी । (प्रश्नव्याकरण)

आवें, हम भी अपनी ओर से नतमस्तक होकर इस देवी के चरणों में अपनी श्रद्धाञ्जलि चढ़ाते हुए उससे सर्वोदय के वरदान की याचना करें :

सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः ।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित्पापमाचरेत् ॥ (आ. हरिभद्रकृत धर्मबिन्दुप्रकरण, ७२)

जैन धर्म एवं आचार

६१